विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
जल विज्ञान और भारतीय प्राचीन साहित्य
प्रेमेन्द्र सिंह गौड़

पृष्ठ क्र. 3-4
भोज रचित चम्पू साहित्य व काव्य
घनश्याम जोशी

पृष्ठ क्र. 5-6
शिल्प और वास्तु के प्रणेता वास्तोस्पति
चन्द्रप्रकाश त्रिपाठी

पृष्ठ क्र. 7
प्रागैतिहासिक काल से चिन्हों की निरन्तरता
राजेन्द्र कुमार व्यास

पृष्ठ क्र. 8
भक्ति रस में शृंगार एवं कला
मिथिलेश यादव

जल विज्ञान और भारतीय प्राचीन साहित्य

प्रेमेन्द्र सिंह गौड़

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने जलविज्ञान के विभिन्न पहलुओं के उन्नत स्तर के ज्ञान का विकास किया था जैसा कि प्राचीन भारतीय साहित्य में परिलक्षित होता है। जिसमें जलविज्ञान और उनके व्यावहारिक अनुप्रयोगों पर बहुत मूल्यवान और महत्वपूर्ण वैज्ञानिक जानकारियाँ दी गई हैं। इस बात के प्रमाण के लिए पर्याप्त पुरातात्विक तथ्य हैं कि सिंधु घाटी के हड़प्पाकालीन लोग मौसमी वर्षा और सिंधु नदी की बाढ़ से संबंधित घटनाओं के बारे में अच्छी जानकारी रखते थे। वैदिक ग्रंथों में जलविज्ञानीय चक्र के लिए महत्वपूर्ण संदर्भ शामिल है। जलविज्ञान की महत्वपूर्ण अवधारणाएँ विभिन्न श्लोकों और वेदों में विभिन्न देवताओं की अराधनाओं और प्रार्थनाओं में दी गई हैं। इसी तरह अन्य संस्कृत साहित्य में भी जलविज्ञान से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारियाँ समाहित हैं। भारत के क्षेत्रों में तथा दुनिया में कहीं भी कृषि की उत्पत्ति और विकास और सिंचाई में अनुभव अलग–अलग प्रक्रियाएँ नहीं हैं, जैसा कि यजुर्वेद के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है:–

कृषिश्चमें यज्ञेनकलपंताम।
वृष्टश्चमें यज्ञेनकलपंताम।।
मारूतश्चमें यज्ञेनकलपंताम।।

ये श्लोक वर्षा, कृषि और वायु या पर्यावरण और उनके अंतर्संबंध के लिए यज्ञ के महत्व को दर्शाते हैं। जलविज्ञानीय चक्र की विभिन्न प्रक्रियाओं जैसे कि वाष्पीकरण, संक्षेपण, वर्षा, धारा प्रवाह आदि के दौरान जल का क्षय नहीं होता है बल्कि एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसका वैदिक एवं बाद के समय काल के लोगों को पूर्णतः ज्ञान था। पौधों द्वारा पानी का अंतःग्रहण, विभिन्न प्रकार के बादलों, उनकी ऊँचाई, वर्षा क्षमता, सूर्य की किरणों और हवा द्वारा सूक्ष्म कणों में पानी का विभाजन तथा पिछले वर्षा के प्राकृतिक परिदृश्यों के पूर्वानुमान के प्रेक्षणों के आधार पर वर्षा की मात्रा के पूर्वानुमान पुराणों, वृहत्संहिता, मेघमाला आदि में भी उपलब्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा पाणिनी की अष्टाध्यायी में वर्षा मान, वर्षा यंत्रों का संदर्भ उपलब्ध है। भारत के विभिन्न भागों में वर्षा की मात्रा की भविष्यवाणी भी कौटिल्य ने की थी। भारतीय लोग वर्षा पर चक्रवाती प्रभाव, भौगोलिक प्रभाव, विकिरण और वाष्पीकरण तथा पृथ्वी के संवहन हीटिंग के प्रभाव से भली–भाँति परिचित थे। उस काल में विभिन्न अन्य पहलुओं जैसे कि अंतःस्यंदन, अवरोधन, धारा प्रवाह, भूआकृति की विज्ञान तथा वर्षा की अपरदन क्रिया की भी जानकारी उपलब्ध थी। महाकाव्य रामायण में कुओं के संदर्भ भी उपलब्ध हैं। प्राचीन भारत में भूमि जल विकास और जल की गुणवत्ता पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था जैसा कि वृहत्संहिता से स्पष्ट है। वैदिक साहित्य, अर्थशास्त्र, पुराणिक स्रोतों, वृहत्संहिता, मयूराचित्रा, मेघमाला, जैन, बौद्ध और अन्य प्राचीन भारतीय साहित्यों में असंख्य संदर्भ विद्यमान हैं जो प्राचीन भारत में जलविज्ञान और जल संसाधनों की स्थिति का वर्णन करते हैं।

वराहमिहिर द्वारा रचित वृहत्संहिता में मौसम विज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर कई वैज्ञानिक प्रवचन शामिल हैं, जैसे बादलों का गर्भधारण, हवा का गर्भधारण, हवा, बादलों का निर्माण, भूकंप, इंद्रधनुष, धूल भरी आँधी और आकाश के रंग, बादलों के आकार, वनस्पति की वृद्धि, जानवरों का व्यवहार, बिजली और गड़गड़ाहट की प्रकृति और संबंधित वर्षा पैटर्न जैसी अन्य चीजों के बीच गरज के साथ बिजली गिरना। आकाश से गिरता पानी, पृथ्वी की प्रकृति में भिन्नता के कारण विभिन्न रंग और स्वाद ग्रहण कर लेता है। बृहत्संहिता के तैंतीस अध्यायों में से दस अध्याय विशेष रूप से मौसम विज्ञान

को समर्पित हैं। यह प्राचीन भारत में वराहमिहिर और उनके पूर्ववर्तियों के काल में प्रचलित मौसम संबंधी ज्ञान की गहराई को उजागर करता है।

वृहत्संहिता के अनेक श्लोक मिट्टी और पानी के संबंध को बताते है। साथ ही इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि ताँबे के रंग की कंकड़ीली और रेतीली मिट्टी पानी को कसैला बनाती है। भूरे रंग की मिट्टी क्षारीय पानी को जन्म देती

है, पीले रंग की मिट्टी पानी को खारा बना देती है और नीली मिट्टी में भूमिगत जल शुद्ध और ताजा हो जाता है। वृहत्संहिता भूजल संसाधनों को मापने के लिए पौधों, सरीसृपों और कीड़ों जैसे भौगोलिक संकेतकों के साथ–साथ मिट्टी के बारे में भी चर्चा करती है। इस प्राचीन संस्कृत काव्य में वर्णित जैव संकेतकों में विभिन्न पौधों की प्रजातियाँ, उनकी रूपात्मक और भौतिक विशेषताएँ, दीमक के टीले, भूभौतिकीय विशेषताएँ, मिट्टी और चट्टानें शामिल हैं। ये सभी संकेतक एक शुष्क या अर्धशुष्क क्षेत्र में विकसित भूजल पारिस्थितिकी तंत्र में उच्च सापेक्ष आर्द्रता के परिणामस्वरूप सूक्ष्म वातावरण में जैविक और भूवैज्ञानिक सामग्रियों के प्रति विशिष्ट प्रतिक्रियाओं के अलावा और कुछ नहीं हैं। स्थान, गर्म और ठंडे झरनों और कुओं के माध्यम से भूजल उपयोग के साथ–साथ कुओं के निर्माण के तरीकों और उपकरणों के साथ जल स्तर की ऊँचाई में भिन्नता, पूरी तरह से वर्णित है। इसका मतलब यह भी है कि आसमान से गिरने वाला पानी मूल रूप से एक ही रंग और एक ही स्वाद का होता है लेकिन पृथ्वी की सतह पर गिरने और रिसने के बाद अलग–अलग रंग और स्वाद ले लेता है। बारिश की भविष्यवाणी करने का विज्ञान भी अनुभवजन्य विकास के रूप में अस्तित्व में आया था। अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है कि "बृहस्पति की स्थिति, गति और शुक्र के उदय, अस्त और गति को देखकर वर्षा का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है या और सूर्य के प्राकृतिक या अप्राकृतिक पहलू।

शुक्र की गति से वर्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। मौर्य काल के दौरान भारत के विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा के वितरण का वर्णन करना संभव था। दुनिया भर में पहली वेधशाला की स्थापना का श्रेय मौर्यों को दिया जाता है। तिब्बती वर्षाछाया क्षेत्र का शुष्क क्षेत्र और ध्रुवीय हवाओं के कारण वर्षा न होना जैसे आधुनिक मौसम संबंधी तथ्य पुराणों में व्यापक रूप से शामिल हैं। जैन और बौद्ध कार्यों में बादलों की वास्तविक ऊँचाई का अनुमान लगाया गया है। प्राचीन भारतीयों द्वारा कल्पना की गई मानसूनी हवाओं और उनके प्रभावों का ज्ञान आधुनिक जल–विज्ञान के अनुरूप है। इन तथ्यों से पता चलता है कि भारत में प्राचीन काल में मौसम विज्ञान सहित जल विज्ञान और संबंधित प्रक्रियाओं का समृद्ध ज्ञान था, जो आधुनिक जल विज्ञान के बराबर है। परिपक्व हड़प्पा चरण से लेकर मौर्य काल तक जल विज्ञान पर किए गए कार्यों की समीक्षा के आधार पर, यह बहुत अच्छी तरह से स्थापित किया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय बादलों के निर्माण, वर्षा की भविष्यवाणी और उसके माप, भूमिगत जल–धारण संरचनाओं, उच्च और निम्न जल के बारे में जानते थे। विभिन्न स्थानों पर गर्म और ठंडे झरने, कुओं के माध्यम से भूजल का उपयोग, कुओं के निर्माण के तरीके और उपकरण, भूमिगत जल की गुणवत्ता और यहाँ तक कि कुआं निर्माण योजनाओं का पता चलता है। जल विज्ञान चक्र, भूजल और पानी की गुणवत्ता की अच्छी तरह से विकसित अवधारणाएँ प्राचीन भारतीयों को उन प्राचीन काल में ज्ञात थीं। वैदिक और अन्य भारतीय परम्पराओं में ग्रहों तथा नदियों सहित सभी प्राकृतिक शक्तियों को देवताओं और देवियों के रूप में माना जाता है और इनकी पूजा की जाती है। प्रांरभिक भारतीय संस्कृति नदी क्षेत्रों के निकट विकसित हुई। वास्तव में देश के नाम की व्युत्पत्ति सिंधु नदी के नाम से की गई है। गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नामक सातों नदियाँ सांस्कृतिक आधार पर महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए पवित्र नदी गंगा पौराणिक रूप से भगवान शिव से जुड़ी है और हिंदुओं द्वारा आत्मा की शुद्धि और मस्तिष्क के पुनरूद्धार के प्रतीक के रूप में मानी जाती है। पूरे भारत के लोग अपने पापों को धोने के लिए पवित्र नदी में डुबकी लगाते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुसार आर्य–कृषकों की सिंचाई प्रधानता कुओं से उसी प्रकार होती थी, जैसे आजकल होती है। तत्कालीन कुओं के नाम 'अवत' और 'उत्स' मिलते हैं। जल चक्र से निकाला जाता था। उस चक्र से वरत्रा (रस्सी) सम्बद्ध होता था और वरत्रा से कोश लगा रहता था। लकड़ी के कुण्ड से आहाव में जल डाला जाता था। जल को सुर्मी या सुषिरा(नाली) से खेतों तक पहुँचाया जाता था। कुल्या नहरों के समान थीं, जिससे जलाशयों में पानी इकट्ठा किया जाता था। अथर्ववेद में वर्णित जल के उपर्युक्त स्रोत एवं उसके महत्व से वैदिक कालीन भारतीय कृषक पूर्णतः परिचित थे। उपर्युक्त विरिण सिंचाई के साथ जल की विविधता का भी परिचायक है।

भोज रचित चम्पू साहित्य व काव्य

घनश्याम जोशी

चम्पू श्रव्य काव्य का एक भेद है, अर्थात गद्य–पद्य के मिश्रित काव्य को चम्पू कहते हैं। काव्य की इस विधा का उल्लेख साहित्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों– भामह, दण्डी, वामन आदि ने नहीं किया है। गद्य पद्यमय शैली का प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक, जातकमाला आदि अति प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। चम्पू काव्य परंपरा का प्रारम्भ हमें अथर्व वेद से प्राप्त होता है। चम्पू नाम के प्रकृत काव्य की रचना दसवीं शती के पहले नहीं हुई। त्रिविक्रम भट्ट द्वारा रचित 'नलचम्पू', जो दसवीं सदी के प्रारम्भ की रचना है, चम्पू का प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त सोमदेव सुरि द्वारा रचित यशःतिलक, भोजराज कृत चम्पू रामायण, कवि कर्णपूरि कृत आनन्दवृन्दावन, गोपाल चम्पू (जीव गोस्वामी), नीलकण्ठ चम्पू (नीलकण्ठ दीक्षित) और चम्पू भारत (अनन्त कवि) दसवीं से सत्रहवीं शती तक के उदाहरण हैं। यह काव्य रूप अधिक लोकप्रिय न हो सका और न ही काव्यशास्त्र में उसकी विशेष मान्यता हुई। हिन्दी में यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त) को चम्पू–काव्य कहा जाता है, क्योंकि उसमें गद्य–पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। गद्य और पद्य के इस मिश्रण का उचित विभाजन यह प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा तथा वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। परन्तु चम्पू रचयिताओं ने इस मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य पर विशेष ध्यान न देकर दोनों के संमिश्रण में अपनी स्वतंत्र इच्छा तथा वैयक्तिक अभिरुचि को ही महत्व दिया है।

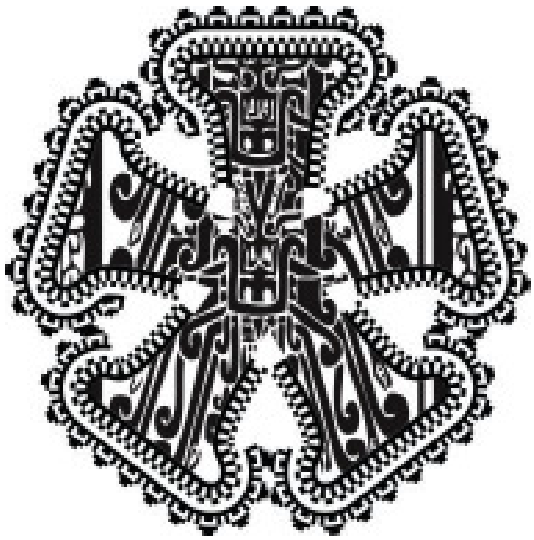

गद्य–पद्य का संमिश्रण संस्कृत साहित्य में प्राचीन है, परंतु काव्यशैली में निबद्ध, 'चंम्पू' की संज्ञा का अधिकारी गद्य–पद्य का समंजस मिश्रण उतना प्राचीन नहीं माना जा सकता। गद्य–पद्य की मिश्रित रचना कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में उपलब्ध होती है। पालि जातकों में भी गद्य में कथानक तथा पद्य में मूल सूत्रात्मक संकेतों की उपलब्धि अवश्य होती है। परंतु काव्य तत्व से विरहित होने के कारण इन्हें हम 'चम्पू' का दृष्टांत किसी प्रकार नहीं मान सकते। हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति (समय 350 ई.) तथा बौद्ध कवि आर्यशूर (चतुर्थ शती) प्रणीत जातकमाला चम्पू के आदिम रूप माने जा सकते हैं, क्योंकि पहले में समुद्रगुप्त की दिग्विजय तथा दूसरे में चौंतीस जातक विशुद्ध काव्यशैली का आश्रय लेकर अलंकृत गद्य–पद्य में वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि चम्पू गद्यकाव्य का ही एक परिबृहित रूप है और इसीलिए गद्यकाव्य के स्वर्णयुग (सप्तम अष्टम शती) के अनंतर नौवीं शती के आसपास इस काव्यरूप का उदय हुआ। चम्पू काव्य का प्रथम निदर्शन त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू है जिसमें चम्पू का वैशिष्ट्य स्फुटतया उद्भासित होता है। दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण (द्वितीय) के पौत्र, राजा जगतुग और लक्ष्मी के पुत्र, इंद्रराज (तृतीय) के आश्रय में रहकर त्रिविक्रम ने इस रुचिर चम्पू की रचना की थी। इंद्रराज का राज्याभिषेक वि. सं. 972 (915 ई.) में हुआ था और उनके आश्रित होने से कवि का भी वही समय है दशम शती का पूर्वार्ध। इस चम्पू के सात उच्छ्वासों में नल तथा दमयंती की विख्यात प्रणयकथा का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन किया गया है। काव्य में सर्वत्र शुभग संभग श्लेष का प्रसाद लक्षित होता है। जैन कवियों के समान चौतन्य मतावलंबी वैष्णव कवियों न अपने सिद्धांतों के पसर के लिये इस ललित काव्यमाध्यम को बड़ी सफलता से अपनाया। भगवान श्रीकृष्ण की ललाम लीलाओं का प्रसंग ऐसा ही सुंदर अवसर है जब इन कवियों ने अपनी अलोकसामान्य प्रतिभा का प्रसाद अपने चम्पू काव्यों के द्वारा भक्त पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। कवि कर्णपूर का आनंदवृंदावन चंपू, तथा जीव गोस्वामी का गोपालचंपू सरस काव्य की दृष्टि से नितांत सफल काव्य हैं। इनमें से प्रथम काव्य कृष्ण की बाललीलाओं का विस्तृत तथा विशद वर्णन करता है, द्वितीय काव्य कृष्ण के समग्र चरित का मार्मिक विवरण है। 'वीरमित्रोदय' के प्रख्यात रचयिता मित्र मिश्र का 'आनंदकंद चम्पू' कृष्णपरक चंपुओं में एक रुचिर शृंखला जोड़ता है। दक्षिण भारत में भी चम्पूकाव्यों की लोकप्रियता कम न थी। नीलकंठ दीक्षित का 'नीलकंठविजय चम्पू' समुद्रमंथन के विषय में है। तैलंग ब्राह्मणों के आत्रेय गोत्र में कृष्ण–यजुर्वेद के तैत्तरीय आपस्तम्ब के अध्येता मूलपुरुष श्रीव्येंकटेश अणम्मा की दूसरी पीढ़ी में उनके सुपुत्र शास्त्रार्थ–विशारद समरपुंगव दीक्षत जिन्होंने पूरे भारत के खास तौर पर यहाँ के सभी धार्मिक स्थलों और बड़े नगरों को अधिकांशतः पदयात्रा करते हुए अपनी आँखों से देखा था। उन्होंने उत्तर तथा दक्षिण भारतीय मुख्यतम तीर्थों का तो अपनी चम्पू कविता में मनोहारी वर्णन किया है। भारत के भूगोल के वैविध्य, वनस्पतियों और वृक्षों के प्रकारों तक पर उनकी सक्षम कलम चली यात्रा प्रबंध उनका अत्यंत प्रसिद्ध और बहुउद्धृत

चम्पू–काव्य अत्यंत प्रसिद्ध है। श्री वैष्णव वेंकटाध्वरी के 'विश्वगुणादर्श चम्पू' की रचना अन्य चंपुओं से इस बात में विशिष्ट है कि इसमें भारत के नाना तीर्थों, धर्मों तथा शास्त्रज्ञों में दोषों तथा गुणों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से एक साथ किया गया है। यह विशेष लोकप्रिय काव्य है। वाणीश्वर विद्यालंकार का 'चित्रचम्पू' बंगाल के एक विशिष्ट पंडित कवि की रचना है जिसमें भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति का संकेत रूपकशैली में एक सरस आख्यान के माध्यम से किया गया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भावों के प्रकटन के निमित्त अनेक शताब्दियों तक लोकप्रिय माध्यम होने पर भी उत्तर भारतीय भाषासाहित्य में चंपू काव्य दृढमूल न हो सका। द्राविड़ी भाषा के साहित्य में सामन्यतः, केरली तथा आंध्र साहित्य में विशेषतः चम्पू काव्य आज भी लोकप्रिय है जिसके प्रण्यन की ओर कविजनों का ध्यान पूर्णतः आकृष्ट है।

भोज ने रामायण की रचना किष्किंधाकांड तक ही की थी। धार नरेश महाराजा भोज ने अपने चम्पू शैली के ग्रंथों में उपमा का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। भोजराज की अन्य रचनाओं में चंपूरामायण उनकी सर्वाधिक प्रधान रचना है। रामकथा की रोचकता, गद्य–पद्य के मिश्रण का प्रयोग और भोजराज की लेखनी का चमत्कार इन सभी वस्तुओं के मिश्रण हो जाने से चम्पूरामायण अत्यन्त प्रसिद्ध एवं विद्वज्जनप्रशंसनीय ग्रंथ है। अतएव चंपूरामायण में भोज ने उपमाओं का प्रयोग किस प्रकार से किया है, यह देखने का यत्न करेंगे। भोजराज ने चम्पूरामायण में 85 उपमाओं का प्रयोग किया है। संख्या की दृष्टि से भोजराज की उपमाएँ लगभग सभी काण्डों में थोड़े से अन्तर के साथ समान ही हैं। बालकाण्ड एवं अयोध्या काण्ड में अठारह–अठारह उपमाओं का प्रयोग है, अन्यत्र अरण्यकाण्ड में तेरह उपमाएँ हैं। इस काण्ड में न्यूनतम उपमाएँ हैं। किष्किन्धाकाण्ड में सत्रह और सुन्दरकाण्ड में सर्वाधिक उन्नीस उपमाओं का प्रयोग मिलता है। अरण्यकाण्ड विस्तार में अन्य काण्डों की अपेक्षा लघु है, अत एवं कम उपमाओं का उपयोग स्वाभाविक है। भोजराज का ज्ञान अगाध सागर तुल्य था। साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति एवं कला आदि विभिन्न विषयों के वे विद्वान थे। फलतः उनकी उपमाएँ भी विभिन्न स्रोतों से गृहीत हैं। उपमा के रूप में आकाशीय तत्वों का बहुलता से प्रयोग मिलता है। सूर्य और चन्द्र को उपमाओं के रूप में सर्वत्र देखा जा सकता है। चम्पूरामायण में भी सूर्य को तीव्रता, तेज आदि गुणों के प्रतीक रूप में लिया है। बाली की वीरता एवं प्रताप सूर्य जैसा है, परन्तु राम के बाण से आहत बाली अस्ताचल की ओर गमन करते हुए सूर्य की भाँति है। अन्यत्र सीता द्वारा फेंके गये आभूषणों की उपमा भी सूर्य से दी गई है जैसे सूर्य अपने पुत्र सुग्रीव को प्रोत्साहन देने आ रहे हैं। चन्द्र की उपमा भी भोजराज ने दी है। रावण की कीर्ति को चन्द्र के समान बताया है। अन्यत्र रावण के दन्तचिह्नों से युक्त भुजा को प्रत्येक तरंग में वर्तमान रहने वाले चन्द्र मण्डल से युक्त बताया गया है। स्वर्ग की देवांगनाओं की कल्पना भी उपमा के लिए की है इन तत्वों में अनेक बार वायु का प्रयोग किया गया है। बाली की उपमा प्रलयकालीन–वायु से दी गई है, जैसे प्रलयकालीन वायु रुई के ढेर को उठाकर फेंक देता है। उसी प्रकार बाली ने दुन्दुभी की मृत देह को मातंग ऋषि के आश्रम में फेंक दिया था। बादलों की भी उपमा दी गई है। सुग्रीव की गर्जना को बादलों की गर्जना के समान कहा गया है। दिन एवं रात्रि के मध्य रहने वाली सन्ध्या को रुधिस्पकिल देह वाली ताड़का के सदृश्य बताया गया है। अन्यत्र त्रिशंकु नामक राजा की उपमा वर्षा की रात्रि से दी गई है। विभिन्न स्थानों पर पर्वतों को उपादान बनाया गया है। भगवान विष्णु को इन्द्रनील पर्वत तुल्य बताया गया है। सुरसा हनुमान का मार्ग रोककर खड़ी हो गई, जैसे विन्ध्याचल सूर्य का मार्ग रोककर खड़ा था। अन्यत्र पाँच वानरों के कारण पर्वत को पंचशिख वाला पर्वत कहा गया है। बाली को निस्तरंग समुद्र के तुल्य बताया गया है। प्रकृति से भी भोज ने अनेक उपमाएँ ग्रहण की हैं। उपमान ग्रहण किये हैं। वनस्पति में कमल को सर्वाधिक उपमाओं के रूप में पाते हैं। भोज ने राम के प्रति पतिबुद्धि रखने वाली शूर्पणखा की उपमा उस शेरनी से दी है, जो कमल में माँसबुद्धि रखती है। अन्यत्र सीता को नीलोत्पल कमल की माला के सदृश्य बताया गया है। अन्यत्र कदली की उपमा हाथ से दी गई है। एक स्थल पर सिद्धौषधि से कला की उपमा दी गई है। वीरता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। राम एवं खर के युद्ध को सिंह एवं खर के युद्ध के समान बताया गया है। हाथी का भी उपमान रूप में उल्लेख है। रावण की उपमा उस मदान्ध हाथी से दी गई है जो अग्नि की ज्वाला को सल्लकी लता समझता है। श्वान को भी रावण की उपमा देते हुए कहा गया है– जैसे श्वान देवमन्दिर से नवोत्पल युक्त माला चुराकर उसे श्मशान में रखता है, उसी प्रकार रावण ने सीता का अपहरण कर अपने भवन में रखा। संकुचित सीता को व्याघ्र से घिरी हरिणी के सदृश बताया है। एक स्थल पर नदी की उपमा गाय से दी गई है। हनुमान के वेग को गरुड़ के वेग–सा बताया है। विरही राम चक्रवाक पक्षी के धर्मवाले हैं। जैसे बादलों को दावाग्नि धूम समझकर मयूर डर जाता है। परन्तु जलकणवाही वायु उसे आनन्दित कर देती है उसी प्रकार सुग्रीव की स्थिति है। अन्य प्राणियों में सर्प का उल्लेख अधिक है। मेघ की आवाज सुनकर सर्प जैसे भयभीत होता है। उसी प्रकार लक्ष्मण के धनुष की आवाज सुनकर सुग्रीव भयभीत हो गये। भुजाओं की उपमा भी सर्प से दी गई है। छोटे प्राणियों में शलभ से उपमा दी गई हैं। अग्नि की उपमा मणिमय दीप से दी गई है। मनुष्य समाज में रहकर ही विकसित होता है और अपने सामाजिक संस्कारों और व्यवस्थाओं को वह गृहीत करता है। सीता की उपमा देते हुए राम कहते हैं– वह सीता विपत्ति में औषधि के समान क्रीडा में सखी के समान, त्रिविध अग्नि से परिचर्या में पत्नी के समान, युद्ध में क्षत्राणी के समान, देव–द्विज आराधना में शिष्या के समान तथा पीड़ा में प्रिय सखी के समान थी। इसलिए सीता का कार्यक्षेत्र एवं महत्व मूर्तरूप से सामने आ जाता है।

शिल्प और वास्तु के प्रणेता वास्तोस्पति

चंद्रप्रकाश त्रिपाठी

वैदिक देव–समुदाय में वास्तु के देवता के रूप में वास्तोष्पति की अवधारणा पायी गयी है। उन्हें गार्हपत्य अग्नि की भाँति गृह का पति, गृह का रक्षक और आवासों का अधिष्ठाता, भवन–निर्माणस्थल का अधिपति व रक्षक माना गया है। ऋग्वेद में उनकी स्तुति में एक समग्र सूक्त और सात बार उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद के अनुसार वास्तोष्पति भवन के अधिपति हैं। निर्माण आरंभ करते समय भवन की दृढ़ता और सम्पन्नता के लिए समृद्धिपरक अभिचार किया जाता था। वृहद्देवता के अनुसार वास्तोष्पति मध्यलोक में रहते हैं। उन्होंने विश्व के लिए आवास (वास्तु) का निर्माण किया है और वही उसकी रक्षा करते हैं इसलिए उन्हें वास्तोष्पतिः कहा गया है। ऋभु जिस प्रकार शिल्प के अधिष्ठाता देव होने के साथ ही दक्ष देव शिल्पी हैं उसी प्रकार वास्तोष्पति स्थापत्य एवं वास्तु के अधिष्ठाता देव होने के साथ ही दक्ष वास्तुविद हैं। उन्होंने भी ऋग्वेद के अनुसार विशेष रूप से एक दृढ स्तंभ का निर्माण किया था। ऋभुओं की भाँति वास्तोष्पति भी इंद्र से सम्बद्ध रहे हैं। ऋग्वेद में उन्हें एक स्थल पर विधानों का अनुपालक बताया गया है और कहा गया है कि देवों ने उन्हें माया द्वारा रचा है।

विश्वदेवा सूक्त में वास्तोष्पति का आह्वान त्वष्टा के साथ किया गया है। संभवतः महान् त्वष्टा के रूप में त्वष्टा के साथ वास्तोष्पति का तादूप्य भी हुआ है और एक स्थल पर इंद्र के रूप में भी। ऋग्वेद के अनुसार वास्तोष्पति देव–कुक्करी सरमा के वंशज हैं। वास्तोष्पति के लिए कहे गये समग्र सूक्त में उन्हें नव–गृह में प्रवेश के अवसर पर पूजे जानेवाला देव बताकर उनसे यह कामना की गयी है कि वह हमारे नव–गृह प्रवेश को हमारे अनुकूल बनाये जिससे यह गृह सभी प्रकार से कल्याणकारी सिद्ध हो। इसी प्रकार आगे चलकर गृह्य सूत्रों में नव–गृह प्रवेश से पूर्व वास्तोष्पति की उपासना का सविस्तार विधान बताया गया है।

वृहत्सहिता के अनुसार ब्रह्मा ने ऋषियों को वास्तु–ज्ञान प्रदान कर वास्तुविदों की एक अटूट परंपरा की स्थापना की, जिसमें त्वष्टा, ऋभु और वास्तोष्पति के अतिरिक्त वास्तु के आचार्यों में मान, नारद और है। नग्नजित का उल्लेख मिलता है। स्थल पर इंद्र के रूप में भी। ऋग्वेद के अनुसार वास्तोष्पति देव कुक्करी सरमा के वंशज है। वास्तोष्पति के लिए कहे गये समग्र सूक्त में उन्हें नव–गृह में प्रवेश के अवसर पर पूजे जानेवाला देव बताकर उनसे यह कामना की गयी है कि वह हमारे नव–गृह प्रवेश को हमारे अनुकूल बनाये जिससे यह गृह सभी प्रकार से कल्याणकारी सिद्ध हो। इसी प्रकार आगे चलकर गृह्य सूत्रों में नव–गृह प्रवेश से पूर्व वास्तोष्पति की उपासना का सविस्तार विधान बताया गया है।

वृहत्संहिता के अनुसार ब्रह्मा ने ऋषियों को वास्तु–ज्ञान प्रदान कर वास्तुविदों की एक अटूट परंपरा की स्थापना की, जिसमें त्वष्टा, ऋभु और वास्तोष्पति के अतिरिक्त वास्तु के आचार्यों में मान, नारद और नग्नजित का उल्लेख मिलता है। मान को वास्तुविद्या का प्रारंभिक आचार्य माना गया है। अथर्ववेद में नव–निर्मित गृह में प्रवेश के अवसर पर विनियुक्त मंत्रों में शाला (गृह) को मान की पत्नी माना गया है और इस शाला में मान को आहूत किया गया है। सायण ने इस स्थल पर मान को वास्तोष्पति माना है। इस प्रकार शाला पत्नी और शाला में रहनेवाला उसका पति मान या वास्तोष्पति हैं। मान का उल्लेख ऋग्वेद में भी है। यहाँ पर मान के जन्म का उल्लेख भी मिलता है। सायण मान को अगस्त्य ऋषि मानते हैं और उनका दूसरा नाम मान बताते हैं। उन्होंने वैदिक वास्तुविद्या को दो परंपराएँ दीं, जिन्हें मानविद् तथा सूत्रप्राथिन के नाम से जाना गया वास्तुविद नारद को ऋग्वेदकालीन ऋषि माना जाता है, वह वास्तु के आचार्य हैं। नग्नजितः नग्नजित को नारद का शिष्य व गांधार का असुर राजा बताया गया है।

त्वष्टा के सुर (देवों) से असुर होने के कारण, त्वष्टा के साथ इन तीनों वास्तुविद्या आचार्यों ने जिस वास्तु शैली को जन्म

दिया, उसे आगे चलकर द्रविड वास्तुविद्या कहा गया तथा इन तीनों को उस वास्तुविद्या का ही आचार्य माना गया। आर्यों से अलग इस वास्तुविद्या और इसके आचार्यों को असुर या असुरों से सम्बद्ध होने के कारण उचित सम्मान नहीं दिया गया। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में नग्नजित के वास्तुशास्त्रीय सिद्धांतों का खंडन किया गया। देवशिल्पियों की भाँति सामान्य शिल्पी का सर्वप्रथम कार्य यह है कि वह सृष्टि व्याप्त अपार सौंदर्य में परमसत्य के दर्शन करें। यह कार्य वह उसी अवस्था में कर सकता है जबकि वह ऋषि हो, मनीषी हो। ऋषि की यास्क ने जो निरुक्ति की है उसके अनुसार ऋषिर्दर्शनात् है अर्थात् सत्य या तत्व के दर्शन करनेवाला द्रष्टा है। ऋषि को ही कवि, कवयः, मनीषी अथवा प्रचेता की उपाधि दी गयी है। कवि शब्द ही द्रष्टा की ऋतंभरा प्रज्ञा को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द है। कवि वह है जो नित्य–नूतन ज्ञान–विज्ञान का प्रत्यक्षदर्शी और दर्शयिता है। काव्य का वस्तुतः अर्थ कौशल है। ऋग्वेद का ऋचाकार ऋभु से पूछता है कि हे ऋभु, शकिं मयस्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्रश अर्थात् वह चमस किस वस्तु का था जिसे तुमने अपने काव्य द्वारा चार किया। कवि के लिए दूसरा शब्द है कारू। कवि कारू है। दोनों ही शब्द कृ धातु से बने हैं जिसका अर्थ है निर्माण करना। निर्माण वही कर सकता है जो परमसत्य या परमदेव के परम रूप को, जो अव्यक्त, अनंत और विराट है, जानने में समर्थ है। जन–साधारण में यह सामर्थ्य नहीं कि वह परमदेव के पर–रूप को जान सके। वह तो उसके अवर–रूप को ही समझ सकता है। अतः परमदेव के पर–रूप को मूर्त–रूप में ढालना शिल्पी का कार्य है, जिससे जन–साधारण परमदेव की प्रतीति कर सके, उसके प्रत्यक्ष दर्शन कर सके। इसलिए शिल्पी समाज का ऋषि–तुल्य शिक्षक है। वह समाज को सौंदर्य–बोध का पाठ पढ़ाता है। वह सृष्टि के अमित सौंदर्य का व्याख्याता है। वह सृष्टि की शिल्पगत व्याख्या कर उसे सर्वसुलभ बनाता है। उसका शिल्प जन–मानस के अंत करण को प्रशिक्षित व परिपुष्ट कर सौंदर्य से आपूरित करता है, जिससे समाज की आत्मा सुसंस्कृत होती है। शिल्प की साधना शिल्पी के लिए ब्रह्म की साधना है। अत इसके लिए शिल्पी को उच्चकोटि का साधक, सत्यान्वेषी, द्रष्टा और सृष्टा होना अनिवार्य है। कठोपनिषद् के अनुसार शिल्पी के लिए अनिवार्य है। कि वह शुद्धबुद्धि–सम्पन्न, श्रेय मार्ग का अनुगामी हो। मन, वचन और कर्म से शुचि व पवित्र, इंद्रिय–संयमी, वीतरागी, निस्पृह व स्थिर प्रज्ञावान हो। वह आत्म–योग द्वारा अपने मन व इंद्रियों को परमदेव में लीन कर चुका हो। वह अपने अंतःकरण को निर्मल बनाकर हर्ष व शोक आदि विकारों से निरत हो। मुंडक उपनिषद् के अनुसार वह सत्य, तप सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रह कर ही आत्म–तत्व के दर्शन कर सकता है। अतः ये गुण एक शिल्पी की अनिवार्य अर्हताएँ हैं। ऋषि की भाँति शिल्पी धार्मिक और पवित्र व्यक्ति है। जिस प्रकार उसमें और ऋषि में कोई अंतर नहीं है उसी प्रकार उसके सृजन शिल्प और ऋषि के सृजन काव्य में कोई अंतर नहीं है। इसीलिए शिल्प और धर्म–दर्शन एक ही माने गये हैं। ये दोनों एक ही परमदेव की सेवा में अर्पित सत्य व जात पथ के अनुगामी हैं। ऋषि ने जिस प्रकार ब्रह्म को पा लिया है, उसके दर्शन कर लिये हैं उसी प्रकार शिल्पी भी शिल्प–साधना द्वारा अपने आराध्य परमदेव को पा चुका है। अतः उसे किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि शिल्पी के लिए अन्य किसी प्रकार की ब्रह्म–साधना का विधान नहीं पाया जाता। शिल्पी और ऋषि में यदि कोई भेद किया जा सकता है तो मात्र यह कि ऋषि के लिए ब्रह्म–साधना उपासना है। वह ब्रह्मानंद को पाकर गूंगे के गुड़ की भांति स्वयं मन ही मन आनंद लेता है जबकि शिल्पी के लिए साधना आनंद की वह अनुभूति है, जिसे वह शिल्प कृत्य के माध्यम से सर्व–जन भोग्य बनाता है।

इस दृष्टि से शिल्पी ऋषि से कहीं अधिक समाज के लिए उपादेय है। ऋग्वैदिक समाज में शिल्पियों की कोई जाति नहीं है। अभी जाति–व्यवस्था अपने अस्तित्व में नहीं आयी है, क्योंकि सभी लोग समसामयिक सभी कार्य पारस्परिक सहयोग से करते हैं। एक ही परिवार के व्यक्ति तरह–तरह के कार्य करते हैं। ऋचाकार का कथन है मैं स्तोता हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माँ अन्न पीसनेवाली है। हम एक ही परिवार के व्यक्ति भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं। यद्यपि, ब्राह्मण (ऋषि वर्ग), क्षत्रिय (राजा रक्षक वर्ग) और इन दो के अतिरिक्त समस्त प्रजा विश वर्ग में विभाजित हो चुकी है, लेकिन यह विभाजन कोई विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि समय पड़ने पर युद्ध में ब्राह्मण या ऋषि स्वयं लड़ते और युद्ध का संचालन करते थे। आर्य–अनार्य और दशराज्ञ युद्ध में भरद्वाज, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ऋषियों ने सक्रिय भाग लिया। अतः समय पड़ने पर ब्राह्मण क्षत्रिय बन जाते थे और क्षत्रिय ज्ञान प्राप्त कर ब्राह्मण। ब्राह्मण भी कृषि कार्य करते थे। उन्हें सूत्र ग्रंथ काल तक कृषि करते तथा पशुपालन करते हुए पाया गया है। इसीलिए विश का रक्षक या राजा विशापति कहलाता था। इसी विश में बर्तन–भाण्डे, वस्त्र परिधान व आभूषण, अस्त्र–शस्त्र, रथ–वाहन, गृह तथा जीवनोपयोगी विभिन्न उपकरणों के बनानेवाले शिल्पी सम्मिलित थे। विश से उत्पन्न वैश्य शब्द अपने नये अर्थ में बहुत समय बाद प्रचलन में आया। ऋग्वैदिक समाज में शूद्र का तात्पर्य दासों से था। माना जाता है कि दास पहले आर्यों के प्रतिद्वन्द्वी थे जो पराजित होने के बाद आर्यों के अधीन हो गये। सूत्र ग्रंथ काल तक आचरणहीन व्यक्ति को शूद्र माना जाता था, चाहे वह जन्मना ब्राह्मण ही क्यों न हो। आगे चलकर शूद्रों के भी दो वर्ग हो गये रू शिल्पी और दास। शिल्पी अपने बनाये शिल्प की आय से जीविका उपार्जित करता था और दास ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों की घरेलू या व्यवसायगत सेवा करके जीविका उपार्जित करता था। शिल्पी के लिए तीनों वर्गों की सेवा करने का तात्पर्य इन तीनों वर्गों के व्यक्तियों के लिए उपयोगी और विविध शिल्प–कार्य करना था। इसका वह मूल्य लेता था उनकी स्थिति स्वतंत्र व आर्थिक दृष्टि से संपन्न थी।

प्रागैतिहासिक काल से चिन्हों की निरन्तरता

राजेन्द्र कुमार व्यास

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन में किसी भी प्रकार की कोई सुवर्ण, रजत अथवा ताम्र–मुद्रा उन स्तरों से प्राप्त नहीं हुई है जो प्रागैतिहासिक है। ताम्राश्मयुगीन स्तरों में अनेक मृण्मय पात्र एवं मृण्मयी मोहरें मिली हैं। इन मृण्मयी मोहरों पर चित्र लिपि में कुछ लिखा हुआ है, जिनका बोध एवं कारण परम्परा वर्तमान में भी अज्ञात है, वैसे ऐरावतन महादेवन ने सिन्धु लिपि पाठ अनुक्रमणिका तैयार की है। बाबू दुर्गाप्रसाद ने रजत–आहत मुद्राओं पर अंकित विभिन्न चिन्हों तथा मृण्मयी मोहरों पर उपलब्ध सिन्धु लिपि चित्रों का तुलनात्मक अध्ययन कर ऐसे 30 समान चिन्हों को दर्शाया है। सी.एल. फाब्री ने हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की मृण्मयी मोहरों पर अंकित चित्रों की आहत मुद्राओं के चिन्हों से तुलना कर एक दूसरे की साम्यता बतलाई है। उनके मतानुसार प्रागैतिहासकालीन चित्रांकन तथा चिन्ह आर्यों के आक्रमण के बहुत पूर्व से ही विद्यमान थे तथा भारत की प्राचीन तम मुद्राओं पर अंकित चिन्ह प्रागैतिहासिक सिन्धु सभ्यता के ही स्मृति चिन्ह प्रतीत होते हैं। थियोबोल्ड ने आहत मुद्राओं के 277 चिन्हों को जॅर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल नामक पत्रिका में प्रकाशित किया है। इन चिन्हों का सम्बन्ध सुदूर देशों यथा असीरिया, इजिप्ट व स्काटलैड के प्रतिमा शिल्प पर अंकित चिन्हों से इनकी सादृश्यता स्थापित की है। राय गोविन्दचन्द्र ने सिन्धु सभ्यता की मोहरों पर अंकित लक्ष्मी, गज, स्वास्तिक, मकार, चक्र, ध्वज आदि चिन्हों का वर्णन किया है, तथा इन चिन्हों का स्रोत व पारस्परिक सम्बन्ध बतलाने का सफल प्रयास किया है।

ओमी मनचन्दा ने हड़प्पा व मोहनजोदड़ो के ताम्राश्मीय पात्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया है। उन्होंने एक तालिका के अन्तर्गत मालवा के ताम्राश्मीय मृण्पात्रों तथा हरप्पा, कालीबंगा व लोथल से प्राप्त मृण्मय पात्रों के चित्रों का अंकन कर सूर्य के विविध स्वरूप की साम्यता दर्शायी है। मालवा क्षेत्र के अन्तर्गत कतिपय शैलाश्रयों यथा भीम बेटका (रायसेन जिला) व सीताखर्डी (मंदसौर जिला) में भी आहत मुद्राओं पर अंकित चिन्ह सदृश्य पुरुषांकन, स्वास्तिक तथा सूर्य आदि का प्रागैतिहासिककालीन चित्रों में चित्रण किया गया है। मालवा के विभिन्न उत्खनित स्थलों से ताम्राश्म युगीन मृण्मय पात्रों पर विविध प्रकार के चित्रों का चित्रण किया गया है। कायथा उत्खनन से प्राप्त ताम्राश्मीय पात्रों पर सूर्य, शर चक्र, उज्जयिनी चिन्ह, स्वास्तिक, मकार तथा मयूर चिन्हों का चित्रण किया गया है। दंगवाड़ा तथा नागदा उत्खनन से प्राप्त ताम्राश्मीय पात्रों पर सूर्य, वृक्ष व मयूर का चित्रांकन है। महेश्वर–नावडाटोली के ताम्राश्मीय मृण्मय पात्रों पर सूर्य, शर चक्र, उज्जयिनी चिन्ह, स्वास्तिक, मकार, त्रिरत्न, वृषभ, कूर्म, मत्स्य, बतख, मयूर व खड़ी पुरुषाकृतियों का चित्रण किया गया है। रुणिजा पात्रों पर सूर्य का चित्रण प्रकट है। विदिशा उत्खनन (आम खेड़ा) से उपलब्ध ताम्राश्मीय मृण्मय पात्रों पर सूर्य व मत्स्य–चिन्हों का चित्रण दृष्टव्य है। वि. श्री. वाकणकर ने एक आलेख के अन्तर्गत सिन्धु, नर्मदा एवं चम्बल प्रदेश के स्थलों जैसे हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, आम्री, दिलाया कुल्ली, नागदा, थडावदा, राजगढ़ एवं महेश्वर के तत्कालीन मृणपात्रों के चित्रण का अभ्यास कर उन चित्रों की साम्यता मालवा से प्राप्त आहत मुद्राओं के चिन्हों से की है।

मालवा के अन्तर्गत कुछ शैल चित्रों व उत्खनित स्थलों से उपलब्ध ताम्राश्मीय पात्रों पर अंकित चिन्हों का तुलनात्मक साम्य इस क्षेत्र से प्राप्त प्राचीन मुद्राओं पर अंकित विविध चिन्हांकनों से कर सकते हैं। सीताखड़ के शिलाश्रय समूह, कायथा, दंगवाड़ा, नागदा, महेश्वर–नावदा–तोली एवं आमखेड़ा (विदिशा) से प्राप्त मृण्मय ताम्राश्मीय पात्रों पर सूर्य का सर्वाधिक चिन्हांकन हुआ है। इन पर सूर्य की आकृति रश्मियों युक्त अंकित है। इन पर सूर्य के विविध प्रकार अंकित है। इन सूर्य आकृतियों में दो प्रमुख प्रकार है, प्रथम सूर्य की स्थिरता व द्वितीय सूर्य का गतिमान होना दर्शाता है। लघ्वाकारित सूर्याकृतियाँ भी इन पात्रों पर अंकित है। त्रिशर चक्र कायथा पात्र पर एवं चतुः शर महेश्वर–नावडाटोली मृण्पात्र पर चिन्हित हैं। वृक्षांकन (पत्तियों का अंकन) आजाद नगर (इन्दौर), दंगवाड़ा तथा नागदा के मृणपात्रों पर चित्रित है। स्वास्तिक चिन्ह कायथा, दंगवाड़ा, महेश्वर–नावडाटोली मृण्पात्रों पर अंकित है। मकार चिन्ह महेश्वर–नावडाटोली पात्र पर, उज्जयिनी चिन्ह कायथा एवं त्रिरत्न चिन्ह महेश्वर–नावडाटोली मृण्पात्रों पर चित्रित है। वृषभ, कूर्म, मत्स्य, मयूर व बतख महेश्वर–नावडाटोली के मृण्पात्रों पर अंकित है। वृषभ की मृण्मूर्तियाँ सर्वाधिक रुप से कायथा से प्राप्त हुई हैं। ये वृषभाकृतियाँ भी मुद्राओं पर अंकित वृषभ चिन्हों से मिलती जुलती हैं। मयूर का अंकन नागदा से प्राप्त मृण्पात्रों पर हुआ है। पुरुषांकन भीम बेठका के शिलाश्रय में चित्रित है। तीन खड़ी आकृतियाँ व स्कन्द– कार्त्तिकेय अथवा पुरुष अथवा स्त्री का अंकन महेश्वर–नावदातोली के मृण्पात्रों पर किया गया है। एक पात्र पर खड़ी पुरुषाकृति व मत्स्य चिन्ह अंकित है। चिन्हांकन फलक अग्र पृष्ठ पर अंकित है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आहत मुद्राओं की आहत चिन्हों की शैली व मालव प्रदेश के मृण्मय पात्रों पर चित्रित आकृतियों की शैली में इतना निकट साम्य है कि मानों दोनों एक ही स्रोत से निसृत प्रतीत होते हैं, मालवा के शैलाश्रयों में अंकित कतिपय चिन्हों एवं उत्खनित स्थलों से उपलब्ध ताम्राश्मीय मृण्पात्रों पर चित्रित चिन्हों, यथा सूर्य, शर–चंक्र, वृक्षांकन, स्वस्तिक, मकार, उज्जयिनी चिन्ह, त्रिरत्न, वृषभ, कूर्म, मत्स्य, मयूर, बतख, एक खड़ी पुरुषाकृति, तीन खड़ी आकृतियाँ और दो आकृतियाँ पुरुष व स्त्री आदि से आहत मुद्राओं पर अंकित चिन्ह पूर्व परम्परा व स्रोत ज्ञातव्य हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भक्ति रस में श्रृंगार एवं कला

गीत गोविन्द बारहवीं शताब्दी में लिखी गयी एक ऐसी काव्य रचना है जो हमें भगवान कृष्ण और राधारानी के प्रेम के बारे में बताती है। इसमें कुल बारह अध्याय हैं। यह काव्य ओडिशा राज्य के भुवनेश्वर और पुरी शहर के मध्यवर्ती केन्दुबिल्व या केन्दुलि शासन नाम के गाँव में वास करने वाले ब्राह्मण जयदेव की कृति है। जयदेव ने उनकि पत्नी पाद्मावति के सहयता से इसका ऐसा रुपान्तर किया कि तत्कालिन उत्कल (ओडिशा का पूर्व नाम) के राजा ईर्ष्या करने लगे। फिर जब गीत गोविन्द की प्राधान्य जगन्नाथ जी ने स्वप्न में राजा को बतायी तब से मन्दिर में सेवारत नर्तक प्रभु जगन्नाथ के सामने ओडिशी नृत्य–रूप में प्रस्तुत करने लगें। पहले विद्वानों का मानना था कि जयदेव बंगाल के राजा के प्रमुख कवि थे। शिलालेख एवं प्राचीन मन्दिर जो ओडिशा में मौजूद हैं, उनसे प्रमाणित हुआ कि जयदेव जगन्नाथ के भक्त थे और उत्कल राज्य के वासी थे। आज भी ओडिशी नृत्य के माध्यम से गीत गोविन्द सर्वजनीन प्रिय हो रहा है। ओडिशी नृत्य ही जयदेव का ओडिशा प्रान्त का होना सुचित करता है। उनकि गीत गोविन्द काव्य कि प्रचार आन्ध्र, तमिलनाडु तथा कर्नाटक में हुआ। फिर उत्तर भारत में खासतौर पर राजस्थान में मीराबाई के द्वारा हुआ। गुरुग्रन्थ साहिब में भी भगत जयदेव का नाम लिख है जो गीत गोविन्द के रचयिता हैं।

गीत गोविन्द काव्य में बारह सर्ग हैं, जिनका चौबीस प्रबन्धों (खण्डों) में विभाजन हुआ है। इन प्रबन्धों का उपविभाजन पदों अथवा गीतों में हुआ है। गीतों के वक्ता कृष्ण, राधा अथवा राधा की सखी हैं। अत्यन्त नैराश्य और निरवधि–वियोग को छोड़कर भारतीय प्रेम के शेष सभी रूपों–अभिलाषा, ईर्ष्या, प्रत्याशा, निराशा, कोप, मान, पुनर्मिलन तथा हर्षोल्लास आदिकृका बड़ी तन्मयता और कुशलता के साथ वर्णन किया गया है। प्रेम के इन सभी रूपों का वर्णन अत्यन्त रोचक, सरस और सजीव होने के अतिरिक्त इतना सुन्दर है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि शास्त्र, अर्थात् चिन्तन (कामशास्त्र) को भावना का रूप अथवा अमूर्त को मूर्त रूप देकर उसे कविता में परिणीत कर रहा है।

गीत गोविन्द काव्य में जयदेव ने परम्परागत रचना प्रणाली का अनुसरण न करके सर्वथा नवीन और मौलिक शैली को अपनाया है। श्लोक, गद्य और गीत के मिले–जुले प्रयोग द्वारा काव्य में अनुपम रचना–माधुर्य की सृष्टि हुई है। कवि ने कथा–सूत्र के निर्वाह के लिए अपेक्षित दृश्य योजना अथवा अवस्था विशेष के चित्रण जैसे वर्णनात्मक प्रसंगों में श्लोकों का प्रयोग किया है। पात्रों की मनोदशा को सूचित करने वाले संवादात्मक प्रसंगों में गद्य का प्रयोग हुआ है तथा भावानुभूति की अभिव्यंजना पद्यों में की गयी है। इस प्रकार 'गीत गोविन्द' में

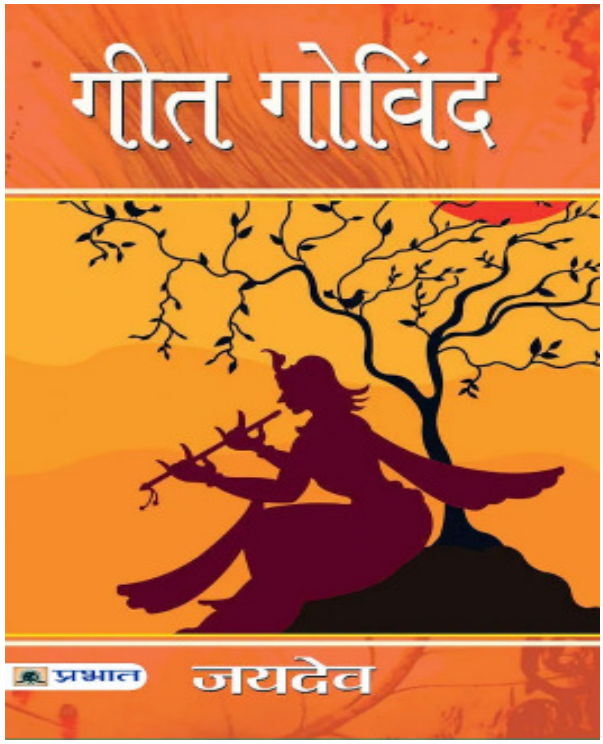

अपनायी गयी अभिनव रचना–प्रणाली में वर्ण, संवाद और गीत परस्पर इस प्रकार गुँथ गये हैं कि उनसे एक विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है। इस अनुपम रचना–शैली के आविष्कर्ता जयदेव, अपने उपमान आप ही हैं। गीत गोविन्द वस्तुतः एक अनुपम एवं अद्भुत ग्रन्थ है, जिसके उद्दाम–शृंगार के अन्तस्तल में रहस्यमयी माधुर्य भावना की निगूढ़ धारा बह रही है। समग्र संस्कृत साहित्य में इस कोटि की मधुर रचना दूसरी कोई नही। संस्कृत भारती के सौन्दर्य और माधुर्य की पराकाष्ठा का अवलोकन करना हो, तो 'गीत गोविन्द' का अनुशीलन करना चाहिए। इसके शब्दचित्रों से सौन्दर्य मानो छलकता है। इसके गीतों के पद–लालित्य अलौकिक माधुर्य का संचार करता है। इसके छन्दों का नाद–सौन्दर्य अपूर्व आनन्द प्रदान करता है। शब्द और अर्थ का सामंजस्य ऐसा मनोमुग्धकारी है कि संस्कृत से अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इसकी–सी कोमलकान्त पदावली संसार की किसी भी भाषा के काव्य में दुर्लभ है। इस काव्य में प्रयुक्त दीर्घ समासों में भी विलक्षण प्रसादिकता एवं स्वर–माधुर्य है। अनुप्रास के प्रयोग में तो कवि अद्वितीय है। उनके गीतों में अनुप्रास का प्रयोग पदों के अन्त में ही नहीं, मध्य में भी अपनी छटा बिखेरता हुआ चलता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com